ओ३म

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी



केन उपनिषद्



॥ ओ३म् ॥

कुछ-एक प्रारम्भिक शब्द

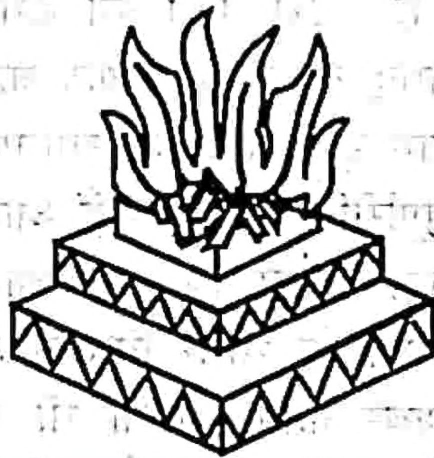
उपनिषद् भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् (यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय) है। इसी उपनिषद् की शिक्षाओं को लक्ष्य में रखकर आगे के उपनिषद् बने हैं। ईशोपनिषद् वेद का एक अध्याय होने से मन्त्रोपनिषद् कहा जाता है। अन्य प्रायः सभी उपनिषद् शाखा, आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों के अंश हैं। इसीलिए वे मन्त्रोपनिषद् नहीं कहे जाते। यह (केन) उपनिषद् सामवेद के तलवकार (जैमिनीय) ब्राह्मण के नवम अध्याय में है। इसलिए इस उपनिषद् का प्राचीन नाम तलवकारोपनिषद् है परन्तु चूंकि यह उपनिषद् "केन" शब्द से प्रारम्भ होती है, इस लिए इस को ईशोपनिषद् की भांति केनोपनिषद् कहा जाने लगा। ईशोपनिषद् के चौथे मन्त्र में–'नैनद्देवा आप्नुवन्'–यह एक वाक्य आया है, जिसका अर्थ यह है कि ईश्वर इन्द्रियों से प्राप्त होने योग्य नहीं है। इसी मूल शिक्षा के आधार पर इस (केन) उपनिषद् की रचना हुई है। समस्त (केन) उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार हुआ है। यह उपनिषद् भी ईशोपनिषद् की तरह यद्यपि छोटी सी उपनिषद् है, परन्तु इसकी भी शिक्षाएं बड़े मारके की हैं।

ब्रह्मज्ञान का अर्थ क्या है? हम ईश्वर को जानते हैं, इसका मतलब क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इसी उपनिषद् में दिया गया है। उपनिषद् के दूसरे खण्ड का पूर्वार्ध इसी प्रश्न के हल करने के लिए रचा गया है। उपनिषद् का उत्तर यह है कि ईश्वर को हम पूर्णरीति से जानते हैं और न ही ऐसा है कि उसे कुछ भी नहीं जानते, जैसा कि अज्ञेयवाद (Agnosticism) की शिक्षा है। इस दिशा के भीतर कितना उत्कृष्ट भाव निहित है कि हम उसे (ईश्वर को) जितना भी जानते हैं, उससे तो आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) बनें अैर जो नहीं जानते उसकी खोज करें जिससे ईश्वर-चिन्तन से कभी विमुख न होने पावें।

इसी ईश्वर की खोज का नाम ब्रह्मविद्या है। उपनिषद् में इसी प्रकार की अनेक मर्म की बातें कही गई हैं जिसको टीका में स्थल-स्थल पर अच्छी तरह खोलकर प्रकट कर दिया गया है।

जिस प्रकार यह उपनिषद् एक (जैमिनी) ब्राह्मण का भाग है और केनोपनिषद् कहलाता है, इसी प्रकार अथर्ववेद का भी एक सूक्त है जो "केन" शब्द ही से प्रारम्भ होता है और इसी लिए उसे भी केन सूक्त कहते हैं। उपनिषद् की अपेक्षा उस सूक्त में अधिक प्रश्न हैं और प्रश्न रूप ही में उसमें अनेक उत्तम शिक्षाएं दी गई हैं। इस टीका के पढ़ने वाले उस सूक्तान्तर्गत वर्णित शिक्षाओं से भी लाभ उठा सकें, इसलिए इस टीका के अन्त में परिशिष्ट रूप में वह सूक्त, अर्थ और व्याख्या सहित उद्धृत कर दिया गया है। ईश्वर कृपा करें कि जिससे उपनिषद् और सूक्त की शिक्षाएं इस टीका के अध्ययन करने वालों के हृदय में अपना स्थान बनावें और उनके उपकार का कारण बनें।

—नारायण स्वामी





॥ ओ३म् ॥

सामवेदीय तलवकार

केन उपनिषद्

प्रथमः खण्डः

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतिः युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

अर्थ—किसकी प्रेरणा से मन इच्छित विषय पर गिरता है। किससे नियुक्त हुआ (प्रथमः) फैला हुआ प्राण चलता है (केन इषिताम्) किससे प्रेरित हुई (इमां वाचम् वदन्ति) यह वाणी बोलती है। (कः उ देवः चक्षुः श्रोत्रं युनक्ति) कौन देव आँखों और कानों को चलाता है ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, यद् वाचो ह वाचं च स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—वह कान का कान और मन का मन है। जो निश्चय से वाणी का वाणी है वही प्राण का प्राण और आँख की आँख है। (अतिमुच्य) (इन इन्द्रियों से) छूटकर धीर पुरुष इस लोक से (प्रेत्य) पृथक् होकर अमर होते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? जगत् क्या है ? किसने रचा है ? ये प्रश्न हैं, जो स्वाभाविक शान्ति के साथ बैठे हुए मनुष्यों के हृदयों में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन्हीं प्रश्नों के समाधान की इच्छा ने फिलौसफी (दर्शनशास्त्र) को जन्म दिया। इसलिए नियम बनाया गया है कि फिलौसफी का अधिकतर विस्तार उन्हीं देशों में हुआ करता है जहाँ शान्ति का साम्राज्य स्थापित हुआ करता है। भारतवर्ष में क्यों इतना अधिक फैलाव दर्शनशास्त्र का हुआ, जिसका उदाहरण पृथ्वी के अन्य भाग में नहीं पाया जाता ? इसका कारण यही है कि

भारतवर्ष राम (शान्तिमय) राज्य के लिए प्रसिद्ध है। योरुप में फिलौसफी का थोड़ा बहुत फैलाव जो हुआ उसका होना उसी समय सम्भव हुआ जब योरुप से पोपडम की चढ़ी हुई कमान उतारी और योरुप निवासियों को विचारों के प्रकट करने की स्वतन्त्रता मिली। दर्शन के मूल प्रश्न मनुष्य की नैसर्गिक इच्छा के उत्कृष्ट रूप हुआ करते हैं। अतः इन्हीं नैसर्गिक इच्छा की तह से उठे हुए प्रश्नों के साथ इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। एक जिज्ञासु के शान्त हृदय में प्रश्न उठता है कि मन किस प्रकार संकल्प-विकल्प करता है। कहाँ से उसमें इतना वेग आ जाता है कि जिससे यह कल्पनातीत काल में असंख्य मील दूर पहुँच जाया करता है? किस प्रकार प्राण अपना विलक्षण काम करके प्राणियों के जीवन का आधार बना हुआ है? चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियों में जड़ प्रकृति का कार्य होते हुए भी किस प्रकार देखने-सुनने आदि की विचित्र क्रियायें हुआ करती हैं? उपनिषद् के ऋषि ने जिज्ञासु का उत्तर दिया कि एक शक्ति है और हाँ, वह एक विलक्षण शक्ति है, जो मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियों में अपना-अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान करती है और उसी की प्रदान की हुई योग्यता से मन आदि मिट्टी के ढेले के सदृश होते हुए भी वह विलक्षण काम करते हैं कि जिनकी कार्यप्रणाली समझने में विज्ञान के टिमटिमाते हुए दीपक धुंधले पड़ रहे हैं और तर्क के तीव्र आलोचक शास्त्र भी कुण्ठित हो रहे हैं* उत्तर के अन्तिम भाग में यह संकेत कर दिया गया है कि यदि तुम उस शक्ति का सामीप्य प्राप्त करके अमरता का जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें इन्द्रियों के कार्यों (विषयों) में लिप्त नहीं होना चाहिए। उनसे

* जोजेफ मेकोब ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि, सम्प्रति मस्तिष्क एक ऐसी तमःपूर्ण गुफा है कि उसमें व्यवच्छेदकों और शरीर विद्या के पण्डितों के दीपक, मस्तिष्क की गुप्त समस्याओं को सुलझाने की जगह और उलझन बढ़ा रहे हैं।
(Evolution of mind by J. Mecobe P. 15 and 16)

काम लो, उनको अपना-अपना व्यापार करने की स्वतन्त्रता दो, परन्तु तुम उनके कार्यों से निरपेक्ष रहो, उनमें फंसों नहीं, उन पर अधिकार रखो ।। २ ।।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वागगच्छति, नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

अर्थ–न वहाँ आँख पहुँचती है, न वाणी पहुँचती है और न मन (इसलिए उसको) न जानते हैं, न जान सकते हैं, जिस से उसका उपदेश किया जा सके। वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक् है और अज्ञात से भिन्न है। ऐसा पूर्व आचार्यों से सुनते हैं, जो हमको उसका उपदेश करते आए हैं ।। ३ ।।

व्याख्या–क्यों मनुष्यों को इन्द्रियों के (कार्यों) से निरपेक्ष रहना चाहिए ? इसका कारण, उपनिषद् के इस वाक्य में दिया गया है और वह कारण यह है कि उस विलक्षण शक्ति तक इन इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। इसलिए इनके माध्यम से कोई उस शक्ति तक नहीं पहुँच सकता ? क्यों इन्द्रियों की वहाँ पहुँच नहीं है ? इसका कारण मालूम होना चाहिये। उपनिषद् वाक्य में दो बातें कही गई हैं, पहली बात तो यह (इन्द्रियों की पहुँच न होने से सम्बद्ध) है, दूसरी बात यह है कि उस (अपूर्व) शक्ति को न जानते हैं, न जान सकते हैं क्योंकि वह विदित और अविदित दोनों से पृथक् है। यदि दूसरी बात ठीक है तो इन्द्रियों पर क्या निर्भर है, वह प्रत्येक ही की पहुँच के बाहर है क्योंकि अज्ञेय है। इसलिए पहले इसी दूसरी बात पर विचार करना चाहिये कि क्या वह (विलक्षण) शक्ति अज्ञेय है ?

कतिपय विचारकों ने, जिनमें पूर्व और पश्चिम दोनों के विद्वान् सम्मिलित हैं, उपनिषद् को अज्ञेयवाद प्रतिपादिका समझा है। पश्चिमी विद्वानों में हर्बर्ट स्पेन्सर और जर्मनी के विद्वान् रेमौंड (Dr. Bois Raymond) मुक्त रीति से इस वाद (अज्ञेयवाद) (Agnosticism) के पोषक थे। स्पेन्सर ने धर्म

के अन्तिम ध्येय ब्रह्म के साथ विज्ञान के अन्तिम ध्येय दिशा (Space), काल (Time), प्रकृति (Matter), गति (Motion), शक्ति (Force) और मस्तिष्क (Mind) को भी अज्ञेय ठहराया था, परन्तु उसका यह वाद सीमित था। उसने कहा कि ब्रह्म अथवा विज्ञान की मूल वस्तु अज्ञेय है। हम उन्हें नहीं जानते। परन्तु जर्मनी के विचारक ने इस पर सन्तोष नहीं किया। उसने एक पग और आगे बढ़ाया। स्पेन्सर ने जहाँ कहा था कि 'हम उसे नहीं जानते' (Ignoramous –We do not know) वहाँ रेमौंड ने कहा कि, हम उसे जानेंगे भी नहीं। (Ignoramous = We shall never know) इन पश्चिम के विद्वानों और इसका अनुकरण करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी एक ओर इस प्रकार उस शक्ति को अज्ञेय कहा, दूसरी ओर कुछेक ऐसे ही विद्वानों ने अज्ञेयवाद सम्बन्धी अपने कथन का आधार उपनिषद् के इसी वाक्य को ठहराया। परन्तु ऐसा कहने में वे भ्रम में थे और हैं। उन्होंने उपनिषद् के इस वाक्य का ठीक भाव नहीं समझा। उपनिषद् के इस वाक्य में जहाँ 'न विद्यो न विजानीम:' अर्थात् न उसे जानते और न विशेष यत्न करने से जान सकते हैं, 'विदितादथो अविदितादधि' अर्थात् वह ज्ञात और अज्ञात दोनों की हद से बाहर है, दो शब्द परिणाम रूप में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ इससे पहले उसका कारण दे दिया गया है और वह कारण यह है कि अर्थात् ईश्वर तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है इसलिए अनिवार्य परिणाम यही निकल सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा न उसको जानते और न जान सकते हैं और यह भी कि इन्द्रियों के द्वारा ही तो ज्ञात और अज्ञात है, उससे भी वह बाहर है, कल्पना करो कि, इन्द्रियों द्वारा १०० बातें जानी जा सकती हैं और एक व्यक्ति ने अपनी इस समय तक की आयु में उनमें से ५० बातों को जान लिया है। परन्तु बाकी ५० को अभी तक नहीं जान सका है। परन्तु उन्हें यत्न करने से जान सकता है तो उसके लिए पहली ५० बातें ज्ञात (विदित) और दूसरी ५० बातें अज्ञात

(अविदित) हैं। उपनिषद् की शिक्षा यह है कि वह (विलक्षण) शक्ति इस ज्ञात और अज्ञात दोनों से बाहर है। उपनिषद् के इस वाक्य का अब भाव स्पष्ट हो गया कि चूँकि उस शक्ति तक इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, इसलिए कोई भी इन्द्रियों के द्वारा उस शक्ति को नहीं जान सकता[१]। वह किस प्रकार जाना जा सकता है, इसका वर्णन स्वयं उपनिषत्कार ने इसी उपनिषद् में आगे कर दिया है, जिसे आगे के पृष्ठ प्रकट करेंगे ।। ३ ।।

यद्वाचाऽनभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।। ४ ।।
यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ।। ५ ।।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।

---

१. एक दूसरा स्थल भी उपनिषदों में है जिसका ठीक भाव न समझकर उससे भी ईश्वर के अज्ञेय होने का स्वप्न अनेक विद्वान् देखा करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक जगह वर्णित है कि ब्रह्म (प्रकृति अर्थात् पञ्चभूतों के समुदाय) के दो रूप हैं एक मूर्त (स्थूल दृश्य), दूसरा अमूर्त (सूक्ष्म दृश्य)। इनमें से अग्नि, जल और पृथ्वी मूर्त हैं शेष आकाश और वायु अमूर्त हैं। इसी शिक्षा को उपर्युक्त कथन के बाद अध्यात्म रूप में वर्णन करते हुए प्रकट किया गया है कि शरीर में जितना अंश अग्नि, जल और पृथ्वी का है वह मूर्त (स्थूल दृश्य) है और इसके अतिरिक्त प्राण (रूप में वायु) और शरीर के भीतर का आकाश जो पञ्चभूतों के अवशिष्ट अंग हैं, अमूर्त (सूक्ष्म और अदृश्य) हैं। जहाँ तक वर्ण के बाद उपनिषद् में ब्रह्म के लिए आदेश "नेति नेति" कथन किया गया है। अर्थात् ब्रह्म के इन पञ्चभूतों के अवयव रूप मूर्त और अमूर्त में से (नेति नेति = न इति, न इति) न ऐसा (मूर्त) है और न ऐसा (अमूर्त) है।

(बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय २, ब्राह्मण ३)

उपनिषद् का वाक्य स्पष्ट है। उसमें साफ तौर से सब वर्णन कर दिया गया है कि ब्रह्म अप्राकृतिक है। वह न प्रकृति का उपादान कारण है, न प्रकृति उसका उपादान कारण (Matterial cause) है, और न वह स्वयं प्रकृति का स्थूल (मूर्त) या सूक्ष्म (अमूर्त) रूप ही है। अर्थात् इसकी सत्ता प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र है। परन्तु कई विद्वान् संक्षिप्त से इस सारे ब्राह्मण को प्रारम्भ से अन्त तक न पढ़कर प्रारम्भ की ५ कण्डिकाओं को छोड़कर केवल कण्डिका ६ में वर्णित आदेश "नेति नेति" को लेकर ब्रह्म के अज्ञेय होने का व्यर्थ ढिंढोरा पीटते हैं।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अर्थ—जो वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं होता, जिससे वाणी का प्रकाश होता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका वाणी से सेवन किया जाता है, वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ४ ॥

जिसका मन से मनन नहीं किया जाता, जिससे मन मनन करता है, उसको तू ब्रह्म जान, जिसका मन से मनन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ५ ॥

जो आँख से नहीं देखा जाता, जिससे आँख देखती है उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका आँख से सेवन किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ६ ॥

जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनता है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसका सेवन कान से किया जाता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ७ ॥

जो प्राण[१] से प्राण के व्यापार में नहीं आता, जिससे प्राण अपना व्यापार करता है, उसी को ब्रह्म जान, जो प्राण के व्यापार में आता है वह (ब्रह्म) नहीं है ॥ ८ ॥

व्याख्या—वह विलक्षण शक्ति (ब्रह्म) इन्द्रियों की पहुँच से परे है। न केवल यह कि इन्द्रियाँ वहाँ नहीं पहुँच सकतीं बल्कि यह भी कि इन्द्रियों द्वारा उसके स्वरूप का प्रकाश भी

---

१. प्राण को तीन प्रकार से समझना चाहिए।
(क) प्राण एक वायु है, जिसके दस भेद हैं और इन्हीं से समस्त शरीर का व्यापार चला करता है। प्राण के १० भेद ये हैं—
१. प्राण—श्वास का बाहर निकालना।
२. अपान—श्वास का भीतर ले जाना।
३. समान—नाभिस्थ, शरीर में रस पहुँचाना।

नहीं हो सकता। उस शक्ति तक इन्द्रियों की पहुँच न होने का मतलब यह है कि उसकी प्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ नहीं हैं और उसके स्वरूप का प्रकाश न कर सकने का तात्पर्य यह है कि उसके स्वरूप, उसके गुण, कर्म का याथातथ्यत: (ठीक-ठीक) प्रकटीकरण, इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। इसी अन्तिम बात का वर्णन उपर्युक्त इन ५ उपनिषद् वाक्यों में किया गया है। पहले वाक्य में वाणी की असमर्थता प्रकट की गई है। अन्यों में मन, चक्षु, श्रोत और प्राण के लिए कहा गया है कि वह शक्ति इनके व्यापार में भी नहीं आ सकती, अर्थात् हम उस को न देख-सुन सकते हैं, उसका वर्णन कर सकते हैं, न उसे मन में ला सकते हैं। न इन्द्रियों में श्रेष्ठ प्राण के द्वारा उसका प्रकाश कर सकते हैं। आखिर उसका ज्ञान किस प्रकार

---

४. उदान–कण्ठस्थ, अन्न पान को भीतर पहुँचाना।

५. व्यान–समस्त शरीर में रक्त का संचार करना।

६. नाग–कै तथा मल का निकालना।

७. कूर्म्म–निमेष उन्मेष का कारण।

८. कृकल–भोजन-पान की इच्छा से सम्बन्धित।

९. देवदत्त–जम्हाई आदि का कारण।

१०. धनञ्जय–मूर्छा बेसुध होना, खुर्राटा लेना।

अन्तिम ५ प्राणों के सम्बन्ध में यहाँ एक सन्दर्भ उद्धृत किया जाता है–

नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जयरूपा: पञ्च वायव:।

एतेषां कर्माणि च यथाक्रमं उद्गारोन्मीलन-क्षुधाजनन-विजृम्भण-मोहरूपाणि ।।

(संगतिदर्पण अध्याय १, श्लोक ४३, राजा सुरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित संस्करण)

(ख) दर्शनों में प्राण इन्द्रिय समुदाय का नाम है, परन्तु उपनिषदादि वेदान्त ग्रन्थों में प्राण एक पृथक् (अन्त:) करण है, जिसकी समस्त इन्द्रियों से तरजीह दी गई है।

(ग) सूक्ष्म प्राण एक शक्ति है, जिसके लिए अंग्रेजी भाषा के लेखकों ने Human Electricity magnotism, vital force, vital energy आदि अनेक शब्द प्रयोग किये हैं। इसी शक्ति के समस्त शरीर के भीतरी और बाहरी व्यापार हुआ करते हैं।

हो ? इसका सूक्ष्म विवरण तो आगे मिलेगा, परन्तु स्थूल रीति से उसके समझ लेने को उपनिषद् में इस जगह प्राण शब्द इन्द्रिय-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कुछ संकेत यहाँ कर दिया गया है और वह संकेत यह है कि तुम उस विलक्षण शक्ति के लिए समझो कि वह शक्ति वह है जिसने समस्त इन्द्रियों में अपना व्यापार करने की योग्यता प्रदान की है। उस विलक्षण शक्ति की विलक्षणता यही है कि उसने प्रकृति को अव्यक्त (Latant) होते हुए भी जगत् रूप में परिणत करके व्यक्त (Patent) कर दिया है, परन्तु स्वयं अव्यक्त रही। एक कवि ने क्या अच्छा कहा है–

राजे हस्ती[१] को मेरे मुझ पर हवेदा[२] कर दिया।
गुञ्चये[३] दिल को नसीमे[४] इश्क ने वा[५] कर दिया॥
भेज कर महखानए[६] दुनिया में साकी ने मुझे।
खुद रहा परदे में मेरा राज सफशा[७] कर दिया॥

१. जीवन का भेद, २. प्रकट, ३. कली, ४. प्रेम समीर, ५. खोल देना, ६. जगत् को कवि ने शरावखाना ठहराया है, ७. भेद खोल देना।

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति, दभ्रमेवापि नूनं त्वं ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

अर्थ–यदि तू मानता है (गुरु शिष्य से कहता है) कि (ब्रह्म को) अच्छी तरह जानता है तो निश्चित तू ब्रह्म के रूप को बहुत थोड़ा जानता है। जो उसका रूप तुझमें है और जो उसका रूप देवों में होना ज्ञात है, उसको तेरे लिए मैं खोज करने योग्य ही मानता हूँ ॥ १ ॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद वेदेति वेद च ॥ २ ॥

अर्थ–(गुरु कहता है) मैं नहीं मानता कि (वह ब्रह्म) अच्छी तरह से जानने योग्य है, (नो) न यह मानता हूँ कि बिलकुल जानने योग्य नहीं है, (क्योंकि उसको) जानते भी हैं। (नः) हममें से (यः) जो कोई (तद् वेद) उसको जानता है वह (तद्, वेद) उसको जानता है। (नो) कि (न वेद इति) उसे नहीं जानता, (वेद च) और जानता भी है ॥ २ ॥

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विज्ञातां, विजानतामविजानताम् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसका (ब्रह्म के सम्बन्ध में) अमत है अर्थात् वह यह अभिमान नहीं रखता कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है (तस्य मतम्) वही कुछ जानता है, परन्तु जिसका मत है अर्थात् जो अभिमान रखता है कि वह उसे जानता है (न वेद सः) वह कुछ नहीं जानता। ज्ञानाभिमानियों के लिए वह अज्ञात और स्वीकार करने वालों के लिए कुछ ज्ञात है ॥ ३ ॥

व्याख्या–ब्रह्म को जानने के सम्बन्ध में मन्तव्य क्या होना चाहिए, उसकी इन मन्त्रों में बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा दी गई है। गुरु ने शिष्य को सावधान किया है कि मनुष्यों में यह विचार

कभी नहीं रहना चाहिये कि वे ब्रह्म को पूर्णतया जानते हैं। यह चेतावनी देने के बाद गुरु ने अपना (उपनिषद् का) मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है कि वह न तो यह मानता है कि ब्रह्म को अच्छी तरह जानता है और न यह है कि उसे कुछ भी नहीं जानता इसलिए उपनिषद् के शब्दों में मन्तव्य यह हुआ कि "न वेदेति वेद च' अर्थात् उसे नहीं भी जानते और जानते भी हैं।" इसका भाव यह है कि ब्रह्म को जितना भी जानते हैं उससे मनुष्य को आस्तिक (ईश्वर-विश्वासी) बना रहना चाहिए और जो कुछ नहीं जानते उसके जानने के लिए उस (ब्रह्म) का जिज्ञासु रहना चाहिए। इसी भाव को प्रकट करने के लिए पहले वाक्य में ब्रह्म के सम्बन्ध में "मीमांस्यंमेव" (खोज करने योग्य ही) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। क्यों ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की शिक्षा दी गई है ? इसका कारण यह है कि इस प्रकार की शिक्षा देकर ऋषियों ने जन-समाज को नास्तिकता या अज्ञेयवाद के गड्ढे में गिरने से बचा लिया।

इसका विवरण इस प्रकार है कि मनुष्य यदि ईश्वर के सम्बन्ध में यह विचार रखे कि उसे अच्छी तरह जानता है तो इसका फल यह है कि उसमें ईश्वर के लिए उपेक्षा बुद्धि पैदा होगी। कारण स्पष्ट है और वह यह कि जिस चीज को आदमी अच्छी तरह जान लिया करता है, फिर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया करता। एक विद्यार्थी, जिसने एम०ए० या आचार्य परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त कर ली है, वह अंग्रेजी या संस्कृत की प्रारम्भिक पुस्तकों की ओर ध्यान भी नहीं देता क्योंकि उनके लिए उसका विश्वास है कि वे भली-भांति जानी हुई पुस्तकें हैं। यदि इस प्रकार मनुष्यों में ब्रह्म के लिए उपेक्षा बुद्धि पैदा हो जावे तो फल यह होगा कि वे (मनुष्य) न ब्रह्म की ओर ध्यान देंगे, न उसके गुणों का जप करेंगे और ऐसा करने से ईश्वरोपासना से जो मनुष्यों का गुणवृद्धि द्वारा, कल्याण हुआ करता है, उससे वञ्चित रहेंगे। अब मन्तव्य के दूसरे पहलू पर विचार कीजिए। यदि मनुष्य अज्ञेयवादियों के सदृश यह समझने

और मानने लगे कि ब्रह्म को जान ही नहीं सकते तो फिर उसमें निराशा के भाव उत्पन्न होंगे और वह समझने लगेगा कि जिस वस्तु को हम प्राप्त नहीं कर सकते अथवा जिस वस्तु का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं, उसके लिए यत्न करना निरर्थक और समय को व्यर्थ नष्ट करना है। इसका भी फल वही होगा कि मनुष्य निराशा से न ईश्वर का स्मरण करेंगे और न उसकी उपासना, और इस प्रकार उसके फलस्वरूप गुणोत्कर्ष से वञ्चित रहेंगे और अपने ही हाथों अपना भविष्य बिगाड़ेंगे।

अस्तु, देख लिया गया कि उपनिषद् ने ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में इस मन्तव्य की शिक्षा देकर कि उसे कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते। जो जानते हैं वे आस्तिक बने रहें और जो नहीं जानते उससे उसकी खोज करें। मनुष्य जाति का बड़ा उपकार किया है और उसे दोनों ओर के गड्ढों में गिरने से बचा लिया है। उपनिषद् के तीसरे वाक्य में उपर्युक्त सिद्धान्त ही का दूसरे प्रकार से वर्णन हुआ है। उस (वाक्य) में कहा गया है कि जिसका अमत है अर्थात् जो ईश्वर के सम्बन्ध में, परिमित सम्मति कि वह ऐसा है, ऐसा है, नहीं रखता, वह ईश्वर को कुछ जानता है परन्तु जो कोई परिमित सम्मति कि, वह ईश्वर को पूर्ण रीति से जानता है, रखता है, उपनिषद् का कहना है कि वह उसे नहीं जानता। इससे स्पष्ट है कि यह दावा करने वाले कि वे उसे अच्छी तरह जानते हैं, वास्तव में उसे नहीं जानते हैं, परन्तु जो पुरुष अपनी अल्पज्ञता प्रदर्शित करते हुए उसके न जानने का, खुले तौर से, इकबाल करते हैं, वे ही उसे कुछ जानते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइयां' की प्रसिद्ध कहावत के अनुसार ईश्वर की खोज करने वाले उस (ब्रह्म) का कुछ न कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त करते ही रहते हैं और यही ज्ञानवृद्धि अन्त में उनके कल्याण का कारण हुआ करती है। एक कवि ने क्या अच्छा लिखा है—

हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने, जो कुछ हो के मरा।।

जी उठा मरने से वह, जिसकी प्रभु पर थी एक नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था, वह सब खो के मरा ॥ १-३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

अर्थ–प्रतिबोध द्वारा (विदित) प्राप्त हुए (मतम्) ज्ञान से निश्चित है कि अमरत्व प्राप्त होता है। (आत्मना) पुरुषार्थ = कर्म से बल और ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है।

व्याख्या–मनुष्य के अधिकार में ज्ञानोपलब्धि के दो साधन इन्द्रिय और आत्मा हैं। इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे बोध और आत्मा के द्वारा जिस ज्ञान की उपलब्धि होती है, उसे प्रतिबोध कहते हैं। इन्द्रिय शब्द के अन्तर्गत, अन्तःकरण* और बाह्यकरण दोनों शामिल हैं। बाह्यकरण दस इन्द्रियाँ हैं, और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का नाम है। आत्मा की दो वृत्ति हैं–(१) बहिर्मुखी वृत्ति, (२) अन्तर्मुखी वृत्ति।

---

* अन्तःकरण और उसकी कार्यप्रणाली अच्छी तरह समझ ली जावें, इसलिए उसका यहाँ कुछ विवरण दिया जाता है–

(क) मन का काम ५ ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करना, बाकी पांच कर्मेन्द्रियों से कर्म कराना है, इसलिए मन को इन्द्रियों का राजा कहा जाता है। मन का स्थान हृदयाकाश है, परन्तु सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों की जगह, जिनसे मन काम लिया करता है मस्तिष्क है। जर्मनी के एक वैज्ञानिक "फ्लेशजक" (Paul Flechsig of Lelpzig) की खोज के अनुसार मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र, इन्द्रियानुभव के ४ अधिष्ठान या भीतरी (सूक्ष्म) गोलक हैं जो इन्द्रिय संवेदना को ग्रहण करते हैं–(१) स्पर्श ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में, (२) घ्राण का सामने के लोथड़े में, (३) दृष्टि (आँख) का पिछले लोथड़े में, और (४) श्रवण का कपनटी के लोथड़े में है। (देखो 'आत्मदर्शन' पृष्ठ २५७ पहला संस्करण) इन्द्रियों से काम लेने

के सिवाय मन का दूसरा काम अपने भीतर संकल्प और विकल्प करना है। जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं से इसका सम्बन्ध है। सुषप्ति गाढ़निद्रा में मन बेकार-सा रहा करता है।

(ख) बुद्धि की दो तहें अथवा दो भाग हैं—(१) तार्किक बुद्धि, (२) मेधावी बुद्धि। तार्किक बुद्धि का काम तर्क है, अर्थात् तर्क से सत्यासत्य का विवेक करना। मेधावी बुद्धि का काम यह है कि तर्क द्वारा निश्चित सत्य पर श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न कर देना। बुद्धि का स्थान मस्तिष्क है।

आत्मा जब बाह्य जगत् में काम करना चाहता है, तब उसकी बहिर्मुखी वृत्ति काम करती है, और जब अपने भीतर ही काम करता है तब अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति से काम लेता है। बहिर्मुखी वृत्ति का काम बुद्धि, मन और इन्द्रियों के माध्यम से पूरा हुआ।

(ग) चित्त के दो भाग हैं—(१) एक भाग का काम उद्वेग (Emotion) पैदा करना है। (२) दूसरा भाग स्मृति, वासना, और संस्कार का स्थान है।

"स्मृति"—शिक्षा, उपदेश और अध्ययनादि के द्वारा मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त किया करता है, वह ज्ञान चित्त के भण्डार में जमा हो जाया करता है, उसी ज्ञान को स्मृति और उस एकत्रित ज्ञान ही का नाम स्मृति भण्डार हुआ करता है।

"वासना"—कर्म करने से अभ्यास का एकांश बना करता है उसी अंश का नाम वासना हुआ करता है। इस वासना का काम यह है कि उसी कर्म की, जिसकी वह वासना है, फिर करने की, भीतर से, प्रेरणा किया करती है।

"संस्कार"—मनुष्य के चित्त पर उन समस्त घटनाओं के जो उसके या अन्यों के द्वारा घटित हुआ करती हैं, प्रभाव पड़ा करते हैं, इसी को चित्त पर छाप लगाना भी कहते हैं। इसी प्रभाव या छाप (Impressions) को संस्कार कहा करते हैं।

मनुष्य के कर्तृत्व पर इन तीनों का प्रभाव पड़ा करता है। (अहंकार) अहंकार का काम समष्टित्व (कुल) में से व्यष्टित्व (जुज) का निर्माण करना है। मेरा धन, मेरी सम्पत्ति, मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा शरीर आदि भावनाओं का प्रादुर्भाव अहंकार की सत्ता से हुआ करता है। व्यक्तित्व (Individuality) अहंकार के बिना नहीं बन सकती और व्यक्तित्व के निर्माण के बिना जगत् नहीं बन सकता और न स्थिर ही रह सकता है। परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति के लिए किसी माध्यम की जरूरत नहीं है। बहिर्मुखी वृत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान का नाम ही बोध है, परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा प्राप्त हुआ करता है, उसे बोध नहीं कह सकते, उसका नाम प्रतिबोध है। उसके प्रतिबोध कहे जाने का कारण यह है कि वह बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान के प्रकार की दृष्टि से विभिन्नता रखता है। आत्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान के सिवाय प्रयत्न भी है, इसलिए आत्मा सतत् प्रयत्नशील रहता है। सतत् प्रयत्नशीलता का मतलब यह है कि आत्मा की वृत्तियों में से एक न एक सदैव काम करती रहती है। जब एक वृत्ति रुकती या रोकी जाती है तो उसका फल यह होता है कि दूसरी वृत्ति, बिना किसी प्रयत्न के स्वयमेव यान्त्रिक रूप से, काम करने लगती है। जब मनुष्य प्रयत्नशील होकर 'ध्यान' (योग का सातवां अंग) के अभ्यासों द्वारा मन निर्विषय कर दिया करता है, तब बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाया करती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति का कार्यक्षेत्र आत्मा और परमात्मा होते हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान अपना या ईश्वर का प्राप्त हुआ करता है, उसका नाम प्रतिबोध हुआ करता है। उपनिषद् के इस व्याख्यान्तर्गत वाक्य में शिक्षा दी गई है कि इस प्रतिबोध (आत्मानुभव) से, प्राप्त विज्ञान से, मनुष्य अमरता (मोक्ष) प्राप्त करता है। उसे अपने उत्कर्ष से बल

(शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार का) प्राप्त करना चाहिये और उपलब्ध विज्ञान से अमरता लाभ करनी चाहिये। परन्तु इस प्रतिबोध की प्राप्ति अहंकार के तिरोहित या नाश होने से ही हुआ करती है। अहंकार के नाश से ममता का नाश होता है और ममता के नाश से मनुष्य (आत्मा) और परमात्मा के बीच से 'दुई' परदा उठ जाता है। यही मनुष्य-जीवन का अन्तिम ध्येय है—

दिया अपनी खुदी को जो हमने मिटा,
वह जो परदा सा बीच में था न रहा।
रहा परदे में अब न वह परदा नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ।।४।।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥५॥

अर्थ—यहीं यदि उस (ब्रह्म) को जान लिया तो ठीक है, (परन्तु) यदि उसे यहाँ न जाना तो सर्वनाश हुआ है। धीर पुरुष प्रत्येक भूत में उसकी खोज (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस लोक से पृथक् होकर अमर हो जाते हैं ।।५।।

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

व्याख्या—उपनिषद् के इस खण्ड में ब्रह्मज्ञान का साधन बतलाकर चुनौती दी है कि उसे (ब्रह्म को) इस जीवन ही में जानने का यत्न करना चाहिये, अन्यथा ऐसा न करने से हानि होगी। जगत् के एक-एक पदार्थ में ब्रह्म आकाशवत् ओत-प्रोत हो रहा है। इसलिए उसकी खोज तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए ही करनी चाहिये। इस प्रकार उसकी खोज करते हुए धीर पुरुष अमरत्व प्राप्त किया करते हैं।

एक जगह टॉल्स्टाय ने भी इसी प्रकार की बात कही है। उसने कहा कि—"ईश्वर हममें से प्रत्येक के अन्दर विराजमान

है। मनुष्य का सर्वोच्च पुरुषार्थ इसी में है कि, उस दिव्य ज्योति के प्रकाश से अपने हृदय को प्रकाशित रखे।" उसके शब्द ये हैं–

The spirit of God eixsts in each one of us. The highest good for man is to cherish this Divine Spirit within himself. —Tolstoy



तृतीय खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

अर्थ–ब्रह्म निश्चय देवों के लिए विजयी हुआ, उस ब्रह्म की विजय से देव बढ़ने (अभिमान करने) लगे। वे समझने लगे कि हमारी ही यह विजय है और हमारी ही यह महिमा है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव, तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

अर्थ–वह (ब्रह्म) इन (देवों) का (भाव) जान गया और उनके समक्ष प्रकट हुआ। (परन्तु) वे देव न जान सके कि यह यक्ष[1] कौन है ? ॥ २ ॥

---

१. आख्यायिका में आये "यक्ष" शब्द का भाव परब्रह्म परमेश्वर ही है। इसके लिए कुछ एक प्रमाण दिये जाते हैं–

(१) अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्ययः कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ (अथर्व० १०/२/३१, ३२)
अर्थात् जिसमें ८ चक्र और नव द्वार हैं, ऐसी अयोध्या देवों की नगरी है। उसमें प्रकाशमय कोश जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग है, उस प्रकाशमय कोश में जो तीन अरों से तीन केन्द्रों में केन्द्रित हैं और जिसमें आत्मवान् यक्ष हैं, उसे ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

(२) यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकः ॥ (अथर्ववेद ८/९)
अर्थात् पृथ्वी में एकवृत (व्यापक) यक्ष एक ही है।

(३) महद्यक्ष भुवनस्य मध्ये तस्मै बलि राष्ट्रभृतो भरन्ति। (अथर्ववेद १०/८/१५)
अर्थात् त्रिभुवन के मध्य में जो बड़ा यक्ष है, उनके लिए राष्ट्र के सेवक बलि देते अर्थात् अपने को न्योछावर करते हैं।

इसके सिवाय और भी बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तार के भय से नहीं दिये गये हैं। उपनिषद् की इस व्याख्या के अन्त में अथर्ववेद का "केन सूक्त" परिशिष्ट के तौर से दिया है। उसमें इस यक्ष का समर्थन मिलेगा।

तेऽग्निमब्रुवन् जातवेव एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

अर्थ–उन्हीं (देवों) ने अग्नि से कहा है कि हे जातवेद। जानो कि, यह यक्ष कौन है? अग्नि ने यह स्वीकार कर लिया ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अर्थ–वह अग्नि (ब्रह्म के पास) गया। उससे ब्रह्म ने पूछा कि तू कौन है? अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ और मुझी को जातवेदा भी कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

अर्थ–ब्रह्म ने पूछा (कि) तुझमें क्या शक्ति है? अग्नि ने उत्तर दिया (कि) इस पृथ्वी पर जो कुछ है उस सबको मैं जला सकता हूँ ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

अर्थ–उस (अग्नि) के लिए एक तिनका रख दिया (और ब्रह्म ने कहा) कि इसको जला, (अग्नि) उस तिनके के पास पूर्ण वेग के साथ गया (परन्तु) उसे जला न सका। तब वह पीछे लौट आया (और देवों से कह दिया) जो यह यक्ष है उसके जानने में मैं असमर्थ हूँ ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन्, वायवेतद् विजानीहि, किमेतद्यक्षमिति, तथेति ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहस्मीति ॥ ८ ॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति, तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽऽदातुं, स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं, यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

अर्थ–तब देवों ने वायु को कहा कि हे वायु ! तू जान कि यह यक्ष कौन है ? उसने स्वीकार कर लिया ॥ ७ ॥

वह (वायु) ब्रह्म के पास (अभ्यद्रवत्) गया, उससे (ब्रह्म ने) पूछा कि तू कौन है ? उसने उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ और मुझी को मातरिश्वा भी कहते हैं ॥ ८ ॥

(ब्रह्म ने पूछा कि) तुझमें क्या शक्ति है ? वायु ने उत्तर दिया कि (यद् इदं पृथिव्याम्, इदं सर्वम्, अपि आददीय) जो कुछ इस पृथ्वी पर है, उस सबको मैं उड़ा सकता हूँ ॥ ९ ॥

(ब्रह्म ने) उसके लिए एक तिनका (निदधौ) रखा कि इसको उड़ा। वह वायु पूरे बल के साथ उस तिनके के पास गया (परन्तु) (तत् न शशाक आदातुम्) उसको उड़ा नहीं सका। तब वह भी पीछे लौटा (और देवों से कहा) कि मैं यह जानने में असमर्थ हूँ कि यह यक्ष कौन है ? ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद् विजानीहि, किमेतद् यक्षमिति, तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे ॥ ११ ॥

अर्थ–तब इन्द्र ने (देवों) से कहा कि हे मघवन् ! तू जान कि यह यक्ष कौन है ? (इन्द्र ने) स्वीकार कर लिया, वह (इन्द्र ब्रह्म के पास) गया (परन्तु वह ब्रह्म) उससे छिप गया ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं तां होवाच, किमेतद् यक्षमिति ॥ १२ ॥

अर्थ–उसी आकाश में अति सुन्दर हैमवती उमा नामक स्त्री के समक्ष (स आजगाम) वह (इन्द्र) आ गया और उस स्त्री से पूछा कि यह यक्ष कौन है ?

व्याख्या–इस तीसरे खण्ड में एक आख्यायिका के द्वारा यह प्रदर्शित करने का यत्न किया गया है कि समस्त भूत और इन्द्रियाँ ईश्वर की दी हुई शक्ति ही से काम करती हैं।

आख्यायिका में जो यह कहा गया है कि अग्नि एक तृण को नहीं जला सका और न वायु उसे उड़ा सका, ऊपरी दृष्टि के साथ देखने से तो यह बात कुछ अत्युक्ति की सी मालूम देती है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस कथन की सत्यता प्रकट हो जाती है। अग्नि, वायु आदि जब तक सूक्ष्म भूत के रूप में रहते हैं तब तक अव्यक्त (अप्रकट) रहते हैं। लकड़ी में अग्नि मौजूद है परन्तु है सूक्ष्म भूत के रूप में, इसीलिए अप्रकट है। जब तक, अग्नि इस सूक्ष्म रूप में रहती है, एक तिनके को भी नहीं जला सकती परन्तु जब संघर्ष के द्वारा उसको व्यक्त (प्रकट) करते हैं तब वह समस्त संसार को भी भस्म कर देने की योग्यता वाली हो जाती है। यदि कोई कहे कि लकड़ी में अग्नि मौजूद ही नहीं, यह बात सर्वथा मिथ्या होगी क्योंकि यदि मौजूद नहीं, तो संघर्षण से कहाँ से आ जाती है ? संघर्षण से भी नहीं उत्पन्न होनी चाहिए थी। निष्कर्ष यह है कि पञ्चभूत जब तक सूक्ष्म और अव्यक्त रहते हैं, अपना-अपना काम जो व्यक्त होने पर कर सकते थे, नहीं कर सकते, परन्तु जब उनका परिवर्तन स्थूल और व्यक्त रूप में हो जाता है, तब वे अपना-अपना काम करने लगते हैं।

आख्यायिका में अग्नि-वायु उपलक्षण के तौर पर समस्त पञ्चभूतों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार अव्यक्त अवस्था में होने से अग्नि की असमर्थता प्रकट हुई, उसी प्रकार अन्य भूतों की हालत भी समझनी चाहिए। दूसरी बात जो आख्यायिका में वर्णित है, यह है कि ये पञ्चभूत उस यक्ष रूपी ईश्वर को नहीं जान सके। यह तो स्पष्ट है कि पञ्चभूत जड़ हैं और जड़ होने के कारण उसको जान भी किस प्रकार सकते थे।

इस आख्यायिका में अग्नि, वायु जहाँ एक ओर पञ्चभूतों के प्रतिनिधि रूप में प्रयुक्त हैं वहाँ दूसरी ओर उनसे इन्द्रियों की सत्ता भी अभिप्रेत है। अग्नि से चक्षु और वायु से त्वचा का अभिप्राय लिया जाता है। जिस प्रकार पञ्चभूत न ईश्वर की दी हुई शक्ति के बिना काम करते हैं, न उसके जानने का (साक्षात्) साधन

ही हो सकते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी बिना ईश्वर-प्रदत्त सामर्थ्य के काम नहीं कर सकती हैं, और न उसकी प्राप्ति का साधन ही हो सकती हैं। इन्द्रियों की शक्ति और इन्द्रियों के गोलक पृथक्-पृथक् स्थानों पर हैं। इन्द्रियों की शक्ति जिन्हें असली इन्द्रियाँ कहना चाहिये, सूक्ष्म शरीर के अवयव हैं और मस्तिष्क उनका स्वामी है, परन्तु इन्द्रियों के गोलक स्थूल शरीर के बाह्य अवयव हैं। जब तक इनमें प्राकृतिक नियमों द्वारा मेल (Hormony) न हो, इन्द्रियाँ काम नहीं दे सकतीं। कल्पना करो कि आँख के गोलक ठीक हैं, परन्तु दृक्शक्ति के साथ उनका मेल नहीं तो आँख देखने का काम नहीं कर सकती। इसी प्रकार यदि दृक्शक्ति ठीक है और उसका चक्षु के गोलकों से मेल भी है परन्तु गोलकों में कुछ त्रुटि है तब भी आँख काम नहीं दे सकतीं। इन्द्रियों के गोलक आमतौर से बहिर्मुखी हैं, इसलिए–'तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (कठोपनिषद् ४/१) के आशयानुसार ये बाहर के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ही को ग्रहण कर सकते हैं और इसलिए आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति के स्टेशन समझे जाते हैं। परन्तु ईश्वर की प्राप्ति बाहर नहीं, किन्तु भीतर की ओर चलने से हुआ करती है। जैसे कि कहा गया है–

वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत् (यजुर्वेद ३२/८)

अर्थात् योगी ईश्वर का हृदयाकाश में साक्षात्कार करता है।

आत्मनात्मानमभि सं विवेश॥ (यजु० ३२/११)

अर्थात् जीवात्मा के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करो।

मनसैवेदमाप्तव्यम्॥ (कठोपनिषद् ४/११)

अर्थात् ईश्वर मन (अन्तःसामर्थ्य) ही से प्राप्त होने योग्य है।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्॥

(कठोपनिषद् ५/१२)

अर्थात् जो धीर पुरुष आत्मा में प्रवेश करके ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को चिरस्थायी सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। इसलिए स्पष्ट है कि इन्द्रियों से कोई ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।

आख्यायिका में आगे कहा गया है कि जब पञ्च'भूतों अथवा इन्द्रियों से यह यक्षरूप ब्रह्म जाना नहीं जा सका, तब देवों ने इन्द्र को कहा कि वह उसे जाने परन्तु उससे ब्रह्म तिरोहित हो गया। तब उस (इन्द्र) ने 'उमा' के आदेश से ब्रह्म को जाना। 'इन्द्र' और 'उमा' क्या हैं, यह जानने ही से आख्यायिका का भाव स्पष्ट होगा।

इन्द्र कौन है ?

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।

(अष्टाध्यायी)

पाणिनि के इस सूत्र से इन्द्रिय शब्द सिद्ध हुआ है और 'इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्' के अनुसार इन्द्र वह है जिसके कर्त्तव्य के साधन इन्द्रियाँ हैं। स्पष्ट है कि इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं। यद्यपि इन्द्र शब्द ब्रह्म, जीव, राजा, विद्युत् आदि अनेक अर्थों में वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ यक्ष (ब्रह्म) का ज्ञाता इन्द्र है इसलिए यहाँ उचित रीति से इन्द्र शब्द का अर्थ जीवात्मा ही किया जा सकता है ।।.१-१२ ।।

उमा कौन है ?

विद्या उमारूपिणी प्रादुरभूत् स्त्रीरूपा।

(शांकरभाष्य, केन, मन्त्र २५)

श्रीमान् शंकराचार्य जी ने उमा को उपर्युक्त वाक्य में स्त्रीरूप विद्या कहा है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी शंकर ही का अनुकरण करते हुए इसी उपनिषद् की टीका में लिखा–

स्त्रियमतिरूपिणीं विद्यामाजगाम ।।

अर्थात् स्त्री रूपा विद्या आई। इन दोनों महानुभावों ने 'उमा' को जहाँ विद्या कहा है, वहाँ शंकर की पत्नी पार्वती अर्थ भी इस शब्द का किया है। परन्तु पं० श्रीधर शास्त्री पाठक संस्कृताध्यापक डक्कन कॉलेज ने अपनी इस उपनिषद् की विस्तृत संस्कृत-समालोचना में लिखा है कि 'भगवन्' आद्य शंकराचार्य पौराणिकों का मत स्वीकार करने के पक्षपाती

नहीं थे, इसलिए उनके भाष्य में हैमवती का अर्थ, हिमालय पर्वत की पुत्री पार्वती, ऐसा जो इस समय मिलता है, वह वास्तविक उनका नहीं है, किसी लेखक के दोष से उस भाष्य में प्रक्षिप्त हो गया है।' (देखो संस्कृत समालोचना का पृष्ठ ७, ८)। इसलिए शंकर और रामानुज महानुभावों का तात्पर्य उमा शब्द से विद्या या ब्रह्म विद्या ही स्वीकार किए जाने के योग्य है और उचित रीति से, जीवात्मा के लिए ब्रह्म की प्राप्ति का साधन, ब्रह्म विद्या को कहा भी जा सकता है। परन्तु इस पक्ष के स्वीकार कर लेने में एक ही आपत्ति हो सकती है और वह यह है कि ब्रह्मविद्या एक विस्तृत विद्या है। इसमें प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, वेदान्तदर्शन और गीता) के सिवाय अन्य भी अनेक योग और सांख्यादि विद्याओं का समावेश है। इसलिए स्वाभाविक है कि ब्रह्मविद्या में ब्रह्मप्राप्ति के अनेक दूर और समीप वाले सभी साधनों का संयोग हो, परन्तु आख्यायिका में कहा है कि उमा ने बतलाया और उमा के बतलाने से इन्द्र ने जान लिया कि वह यक्ष ब्रह्म है। इसलिए आख्यायिका का विवरण चाहता है कि उमा कोई ऐसी चीज साधन होनी चाहिये जो ब्रह्मप्राप्ति का दूरस्थ नहीं किन्तु समीपस्थ साधन हो। इसलिए इस समीपस्थ साधन की खोज करनी चाहिये। खोज करते हुए जब हम महामुनि पतञ्जलि की सेवा में पहुँचते हैं तो वहाँ उत्तर मिलता है कि–

योगदर्शन और ब्रह्म-प्राप्ति का समीपस्थ साधन

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम् ॥

(योगदर्शन १/२०)

अर्थात्–'अन्यों (विदेहों और प्रकृतियों से भिन्नों) की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (उपाय प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि) होती है। भाव इसका यह है कि जब योगी उपाय-प्रत्यय नामक असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध करना चाहता है, तब उसको प्रथम श्रद्धा–(सत्य पर अटल

विश्वास) सम्पन्न होना चाहिये। यह श्रद्धा माता के समान योगी की रक्षा करती है, जिससे योगवीर्य—(इस योग को सिद्ध करने वाला बल) सम्पन्न होता है। तब वीर्यवान् योगी को स्मृति उपस्थित होती है, जिससे चित्त का स्मृति-भण्डार उस पर खुल जाता है और चित्त के इस प्रकार पट खुल जाने से योगी व्याकुलता रहित हो जाता है। यही चित्त की समाधि है। इस समाधि (समाधान) से प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। प्रज्ञा वह बुद्धि है, जिससे योगी पर मैं क्या हूँ, जगत् क्या है, ईश्वर क्या है, इत्यादि सभी भेद खुल जाते हैं और वह तत्त्वज्ञानी हो जाता है। व्यास के कथनानुसार इस प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करने से इस (प्रज्ञा) से भी योगी को वैराग्य होकर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि हो जाती है। फिर एक-दूसरे स्थान पर अविद्या के हटाने (हान) का उपाय बतलाते हुए योगदर्शन में लिखा है—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ (योगदर्शन २/२६)

अर्थात् विच्छेद रहित विवेक ख्याति (अविद्या) हान के (हटाने) का उपाय है। भाव इसका यह है कि प्रकृति और पुरुष के वास्तविक भेद को अनुभव करने रूप विवेक की ख्याति उपाय है, जिस उपाय के निरन्तर चिरकाल-पर्यन्त अभ्यास करने से पुरुष (आत्मा) को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होने लगता है। यही साक्षात्कार करने वाली बुद्धि समाधि प्रज्ञा कहाती है। इस समाधि-प्रज्ञा से मिथ्या ज्ञानदग्ध-बीज होकर समस्त क्लेशादि का नाश हो जाता है और विवेक-ख्याति दृढ़ और अटल हो जाती है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। (योगदर्शन २/२७)

अर्थात् उस (समाधि-प्रज्ञाप्राप्त योगी) को, सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा हो जाती है। सूत्र का भाव यह है कि इस प्रकार के विवेकी योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) सात प्रकार की प्रान्त भूमि (जिन अवस्थाओं को प्रान्त-परला सिरा कहते हैं) वाली हो जाती है। वे प्रकार ये हैं—

(१) **जिज्ञासा का अन्त**—अर्थात् सब कुछ जो ज्ञातव्य था जान लिया। अब जानने की इच्छा समाप्त हुई।

(२) **जिज्ञासा अन्त**—अविद्या आदि पाँचों क्लेश छोड़ दिए। अब कुछ छोड़ना बाकी नहीं रहा।

(३) **प्रेप्सा का अन्त**—हान को पा लिया। अब कुछ पा लेना शेष न रहने से प्रेप्सा = प्राप्त करने की इच्छा पूरी हो गई।

(४) **चिकीर्षा का अन्त**—हान का उपाय कर लिया गया, अब कुछ करना भी बाकी नहीं रहा।

नोट—इन चारों को प्रज्ञा (बुद्धि) की विमुक्ति (छुटकारा) कहते हैं।

(५) **बुद्धि सत्य की कृतकृत्यता**—अर्थात् मेरा बुद्धिसत्त्व कृतार्थ हो गया, अब इसका अन्त आ गया।

(६) **बुद्धि रूप में परिणत (रूप बदले हुए) गुण भी अपने कारण (प्रकृति) में लय हो गये**—जैसे पहाड़ से लुढ़कता हुआ कच्चा पत्थर या मिट्टी का ढेला कहीं ठिकाना न पाने से टूटते-टूटते रेत बन जाता है, इसी प्रकार सत्त्वादि तीनों गुण बुद्धि-सत्त्व सहित लय को प्राप्त हो जाते हैं।

(७) **आत्मा का अपने स्वरूप में भासना**—अर्थात् प्रकृति के गुणों से पृथक् स्वरूप मात्र में अवस्थित, सत्, चित्, आत्मा, केवली पुरुष (जीवात्मा) परमात्मा का साक्षात् करेगा, अब कुछ बाकी नहीं रहा, सब कुछ प्राप्त हो गया।

नोट—इस अन्तिम तीन भूमियों को चित्त की विमुक्ति कहते हैं।

फिर एक जगह योगदर्शन में आता है—

तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ (योगदर्शन ३/५)

उस (संयम = धारणा, ध्यान और समाधि) की एकत्रित शक्ति के जयसिद्ध = पूरा होने से प्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक (नैर्मल्य) हो जाता है। बुद्धि के निर्मल होने का अभिप्राय यह है कि, उसके द्वारा दूरस्थ या दीर्घकालान्तरित विषयों का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

फिर लिखा है कि–

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (योगदर्शन ३/५४)

अर्थात् सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष (जीवात्मा) की शुद्धि, समान एक जैसी हो जाने पर, कैवल्य (मोक्ष) होता है। महर्षि व्यास ने इस सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि सत्त्व (बुद्धि) में अब अविद्या निवृत्त हुई तो रागादि दोष दूर हुए। इनके दूर होने से (काम) कर्म छूटे, कर्म के छूटने से जन्म छूटा, जन्म के छूटने से दुःख छूटा, दुःख के छूटने से मोक्ष हुआ। समाधिपाद के अन्त में लिखा है–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ योग० १/४८ ॥

अर्थात् तब प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा (केवल सत्य की ग्राहक–निर्भ्रमा) हो जाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्। (योग० १/४९)

अर्थात् (वह ऋतम्भरा बुद्धि) विशेष–विषयिणी होने से श्रुत–शास्त्र और अनुमान की प्रज्ञा से भिन्न–विषया है।

शास्त्र और अनुमान से भी पदार्थों का ज्ञान होता है परन्तु साक्षात्कार नहीं होता, इस ऋतम्भरा बुद्धि की विशेषता यही है कि इससे साक्षात्कार होता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्राबन्धी ॥ (योग० १/५०)

इस (ऋतम्भरा बुद्धि) से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों का हटाने वाला)।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

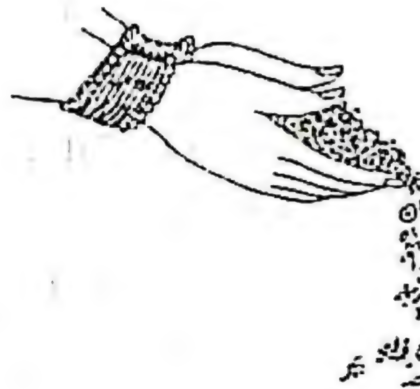
(योग० १/५१)

अर्थात् उस (ऋतम्भरा से उत्पन्न संस्कार) के भी रोकने पर सबके रुक जाने से निर्बीज असम्प्रज्ञात योग सिद्ध हो जाता है। यही मानवीय जीवन का अन्तिम ध्येय और यही मनुष्य की अन्तिम गति है।

योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म प्राप्ति (या मोक्ष) का निकटवर्ती साधन प्रज्ञा (बुद्धि) ही है, जिस समय इस बुद्धि का सुधार होते–होते वह "ऋतम्भरा" नाम वाली बुद्धि हो जाती है, तब उससे चित्त में

वर्तमान सभी संस्कार और वासना आदि की समाप्ति हो जाती है और इनको समाप्त करके मुमुक्षु को अन्तिम ध्येय तक पहुँचा देने के लिए, वह अपना ही बलिदान कर देती है और उसका यह आत्म-बलिदान मुमुक्षु को कृतार्थ कर देने का साधन बन जाता है। इसलिए आख्यायिका में आए "उमा" शब्द का भाव बुद्धि ही हो सकता है। इन्द्र ने उमा की सहायता से ब्रह्म को जाना। इसका तात्पर्य अब साफ हो गया कि जीवात्मा (इन्द्र) ने बुद्धि (उमा) की सहायता से ब्रह्म को प्राप्त किया। आख्यायिका में जो कहा गया है कि इन्द्र से ब्रह्म तिरोहित हो गया उसका अभिप्राय यह है ब्रह्म जगत् को जगत् के रूप में व्यक्त करके भी स्वयम् अव्यक्त (अप्रकट) ही रहता है।

इति तृतीयः खण्डः





अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

अर्थ—उस स्त्री ने उत्तर दिया कि वह (यक्ष) ब्रह्म है। ब्रह्म ही का इस विजय में महत्त्व लाभ करो, (तब इन्द्र को) इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हुआ ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

अर्थ—इसलिए ये देव अन्य देवों से आगे बढ़ गये (क्योंकि) ये जो अग्नि, वायु और इन्द्र हैं (ते, हि, एनत्, नेदिष्ठं पस्पृशुः) वे ही देव अपने समीप स्थित ब्रह्म को देख सके, और वे ही पहले ब्रह्म को जान पाये ॥ २ ॥

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यां देवान् स ह्येनन्नेदिष्टं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

अर्थ—(क्योंकि) इन्द्र (एनत्) इस ब्रह्म को (नेदिष्टम्) अति समीप (पस्पर्श) देखने वाला हुआ (सः हि) और उसी ने (एनत्) इस यक्ष को (प्रथमः विदाञ्चकार) सबसे पहले जाना (तस्मात्, स, अन्यान्, देवान्) इसलिए वह अन्य देवों से (अतितराम् इव) श्रेष्ठ हुआ ॥ ३ ॥

व्याख्या—आख्यायिका को समाप्त करते हुए उपनिषद् के उपर्युक्त वाक्यों में प्रकट किया गया है कि अग्नि, वायु और इन्द्र को अन्य देवों (पञ्चभूतों या इन्द्रियों) से इसलिए तरजीह है, कि ये ब्रह्म की समीपता प्राप्त कर चुके हैं और इन तीनों में इन्द्र को बाकी दो से इसलिए श्रेष्ठता हासिल है कि उसने सबसे पहले ब्रह्म को जाना था।

अग्नि की विशेषता—संसार में उष्णता और गति का कारण अग्नि है। इन दो वस्तुओं को यदि जगत् से पृथक् रख दिया जावे तो फिर जगत्, नहीं रह सकता। संस्कृत में अग्नि

शब्द जिन 'अंग' 'अगि' धातुओं से बनता है उनके अर्थ गति के हैं। टिन्डल (Tyndill) ने भी अपने ग्रन्थों में अग्नि को गति ही कहा है। उसके शब्द ये हैं–"Heat is a made of motion." सूर्य अग्नि का पुञ्ज ही है। सूर्य की उपयोगिता जगत् प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि को 'रक्षसाम् अपहन्ता, कृमि (germ) नाशक' कहा है। ऋग्वेद की पहली ही ऋचा में अग्नि को यज्ञ का देव, ऋतुओं और रत्नों को पैदा करने वाला कहा गया है।

वायु की विशेषता–वायु के भेदों का नाम ही प्राण, अपान आदि है। मनुष्य जीवन की स्थिति में प्राण की सबसे अधिक उपयोगिता होने के कारण ही मनुष्य को प्राणी कहा जाता है। प्राणशक्ति (Vital Force, Vital Energy) ही से शरीर के समस्त व्यापार पूर्ण हुआ करते हैं।

इन्द्र की विशेषता–इन्द्र की विशेषता अग्नि और वायु से अधिक होने का कारण स्पष्ट है। अग्नि और वायु पञ्चभूतों के अंग होने से जड़ हैं, इनमें चेतना का अभाव है। परन्तु इन्द्र (जीवात्मा) चेतनापूर्ण वस्तु है। अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है–

अजौ ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेनं देवा देवतामग्रे आयन्तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥

(अथर्ववेद ४/१४/१)

अर्थात् (हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) निश्चय (ब्रह्मरूप) अग्नि के तेज से (अजः) जीवात्मा प्रकट हुआ। (स अग्रे जनितारम् अपश्यत्) उसने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा, (अग्रे तेन देवाः देवताम् आयन्) प्रारम्भ में उसी (प्रभु) की सहायता से देव (अग्नि आदि ५ भूत अथवा चक्षु आदि) देवत्व को प्राप्त हुए। (तेन मेध्यासः रोहान् रुरुहुः) उससे पवित्र बनकर उच्च स्थानों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में स्पष्ट रीति से दो बातें वर्णित हैं–

१. उस जीव ने पहले अपने उत्पादक प्रभु को देखा।
२. देव उसी (प्रभु) की सहायता से देवत्व को प्राप्त हुए।

मन्त्र ने उपनिषद् में आई आख्यायिका के भाव को, जो इस व्याख्या की उपर्युक्त पंक्तियों में खोला गया है, पुष्ट कर दिया और अब वेद के प्रमाण से भी इन्द्र का जीवात्मा होना पञ्चभूतों तथा इन्द्रियों का ब्रह्म से शक्ति प्राप्त करके अपने-अपने काम के योग्य होना, प्रमाणित हो गया ॥ १, २, ३ ॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा।
इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्॥ ४ ॥

अर्थ–(तस्य एषः आदेशः) उस ब्रह्म का यह आदेश है। (यत्) जो (एतत्) यह (विद्युतः) बिजली का (व्यद्युतत् + आ इति) चमकना और छिपना है। (इत्) और (न्यमीमिषद् + आ) आँख का खुलना व बन्द हो जाना है। (इति) इस प्रकार (अधिदैवतम्) देवताविषयक ब्रह्म का उपाख्यान है ॥ ४ ॥

जगत् की एक-एक रचना जबाने-हाल से प्रभु की सत्ता का सन्देश दे रही है। एक उर्दू कवि ने क्या अच्छा लिखा है–

हवा नहीं है ये, नेचर की सर्द आहें हैं।
सितारे कब हैं ये, हसरत भरी निगाहें हैं ॥

उपनिषद् के इस वाक्य में विद्युत् की चमक और आँखों की दमक को प्रभु का आदेश बतलाया गया। अहा ! कितना सुन्दर आदेश है ! विद्युत् की चमक उपलक्षण से जगत् की समस्त ज्योतियों को प्रकट कर रही है। दूसरी ओर आँखों में भी ज्योति निहित है। आदेश का भाव स्पष्ट हो गया कि नेत्रों की ज्योति के माध्यम से ज्योति को ग्रहण करके अपने को प्रकाशमय बनाओ, मनुष्य के जीवनोद्देश्य की चरम सीमा भी तो यही है कि तम के अन्धकार से निकल कर सत्य की ज्योति में प्रवेश करो•। एक दूसरी उपनिषद् में यही भाव,

• सत्त्व को श्वेत और तम को काले रंग से उपमा देकर श्वेत को अच्छा और काले रंग को बुरा समझा जाता है। क्यों ऐसा समझा जाता है, इसका एक कारण है और महत्त्वपूर्ण कारण है और वह यह कि पदार्थ-विज्ञानवेत्ता बतलाते हैं कि सूर्य किरण, जिनमें सभी रंग होते हैं, सभी वस्तुओं पर पड़ा करती हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता की दृष्टि से रंग शून्य होती है, सूर्य की किरणों से

कैसी सुन्दर प्रार्थना में वर्णन किया गया है–

असतो मा सद्गमय।

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

मृत्योर्मा अमृतं गमयेति ॥ ४ ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्य-भीक्ष्णं सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अर्थ–(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म (कहते हैं) (यत्) जो (एतत्) इस ब्रह्म के प्रति (मनः) मन (गच्छति इव) चलता हुआ सा है, (च) और (अनेन) इस (मन) से उठे (सङ्कल्पः) संकल्प से (अभीक्ष्णम्) बार-बार (एतत्) इस ब्रह्म का (उप-स्मरति) स्मरण करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या–यदि कोई नियम से निरन्तर सात या आठ घण्टे 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' की मर्यादा से प्रणव (ओ३म्) का जप करे तो यह निश्चय है कि मन ठहर जाता है और उसकी वही हालत जागृतावस्था में हो जाती है, जो सुषुप्ति में हुआ करती है। इसी प्राप्त अवस्था को मन का निर्विषय होना कहा जाता है। मन निर्विषय होकर असाक्षात् रीति से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत कर देने का कारण बन जाता है परन्तु साक्षात् कारण नहीं बन सकता। इसीलिए उपनिषद्-वाक्य में मन को

उनमें रंग आया करते हैं और वे रंगीन दिखलाई दिया करती हैं। गुलाब सब रंगों को अपने में जज्ब करके केवल लाल रंग प्रतिक्षेप (लौटा) कर देता है। इसीलिए वह लाल दिखलाई देता है और लाल रंग वाला ही कहा जाता है। इसी नियम के अनुकूल हरा रंग लौटाने से कोई वस्तु हरी कही जाती इत्यादि। परन्तु जो वस्तु कुछ नहीं लौटाती है, सारे रंगों को अपने भीतर ही लिया करती है, वह काली कही जाती है और जो सब लौटाकर अपने पास कुछ नहीं रखती, उसे सफेद कहा करते हैं। अब काले और सफेद रंग का अन्तर स्पष्ट हो गया। जो सर्वस्व न्योछावर कर देवे वह सफेद और जो सब कुछ अपने भीतर ही रख लेवे, वह काला कहा जाता है। सत्व को श्वेत कहे जाने का कारण यही है कि उससे मनुष्य की वृत्ति सर्वस्व-त्याग की हो जाया करती है परन्तु तम की अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है। जो सब कुछ अपने पास ही रखने का इच्छुक हो उसी को तमोगुणी कहा करते हैं।

ब्रह्म की ओर (गच्छति, इव) चलता हुआ सा कहा गया है। यदि कोई चाहता है कि आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति को जागृत करके प्रत्यगात्मदर्शी बने तो उसको उपर्युक्त भाँति प्रणव का जप करना चाहिए। इसी का नाम अध्यात्म है ॥ ५ ॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

अर्थ–(तत्) वह ब्रह्म (ह) निश्चय से सबके (तद्वनं) वन्दनीय = उपास्य होने से (तद्वनं) तद्वनं नाम से (प्रसिद्ध है)। (इति) और (उपासितव्यं) उपासना करने योग्य है। (सः यः) सो जो कोई (एतत्) इस ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (एवम्) उसकी (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अभि संवाञ्छन्ति) चाहना करते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या–जो कोई ईश्वर को वन्दनीय और उपासनीय समझकर उसकी वन्दना और उपासना करता है, उसकी सब प्राणी क्यों चाहना करते हैं, यह प्रश्न है जिसका उत्तर ही, इस उपनिषद् वाक्य की व्याख्या होगी। वह उपासक, उपासक नहीं समझा जा सकता, जिसका हृदय प्रेम से लचकीला न हो चुका हो। प्रेम से भरपूर हृदय में प्राणीमात्र की मंगलकामना के सिवा, दूसरा भाव नहीं आ सकता। फिर भला जिस व्यक्ति में प्राणीमात्र के लिए प्रेम और मंगलकामना के सिवा और कुछ न हो, कैसे सम्भव है कि, उसकी चाहना सब न करें ? कहा जाता है कि एक बार बुद्ध ने देखा कि एक राजा सहमे हुए एक हरिण को खदेड़े ले जा रहा था और इच्छा कर रहा था कि तीक्ष्ण बाण से उसका काम तमाम कर दे। बुद्ध दुःख से पीड़ित होकर राजा के पास गया और बड़ी नम्रता और विनय से बोला कि राजा यह तीर तू मेरे मार दे, परन्तु निरपराध हरिण को न मार। राजा का हृदय बुद्ध के इस प्रेम को देखकर पिघल गया और उसने हरिण को छोड़ दिया, बुद्ध के इस प्रेम का हजारों वर्ष बीतने पर भी, करोड़ों हृदयों पर राज्य है, परन्तु नेपोलियन, नैलसन, केसर और किचनर का प्रकाश अभी से धीमा पड़ने लगा है।

नोट–एक बात हमेशा के लिए समझ लेनी चाहिए कि उपनिषद् में जहाँ कहीं इस प्रकार का प्रयोग हो 'स य एतदेवं वेद' अर्थात् सो जो कोई इस ब्रह्म को ऐसा जानता है, तो इस जानने के अन्तर्गत तदनुकूल आचरण भी सम्मिलित हुआ करता है। केवल जानने (ज्ञान) अथवा केवल करने (कर्म) का उपनिषद् की शिक्षा में कोई स्थान नहीं है। केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म का सेवन करने के लिए उपनिषद् ने खुले तौर से कह दिया है कि वे (अन्धन्तमः प्रविशन्ति) अन्धकार में पड़ते हैं (ईशोपनिषद् मन्त्र ९) ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

अर्थ–शिष्य ने कहा था कि (भोः) हे आचार्य ! (उपनिषदं) ब्रह्मविद्या को (ब्रूहि, इति) (मेरे लिए) कहिये (आचार्य) कहता है कि (ते) तेरे लिए (उपनिषद्) ब्रह्मविद्या (उक्ता) कही गई (वाव) निश्चय (ते) तेरे लिए (ब्राह्मीम्, उपनिषदम्) ब्रह्मविद्या सम्बन्धी उपनिषद् (अब्रूम) कह दी गई ॥ ७ ॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः। सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

अर्थ–(तस्यै) उस (ब्रह्मविद्या की प्राप्ति) के लिए (तपः) तप, (दमः) इन्द्रियनिग्रह (कर्म) और निष्काम कर्म (इति) ये साधन हैं, (वेदाः सर्वाङ्गानि) जो वेद और उनके सम्पूर्ण अंगों में (प्रतिष्ठाः) प्रतिष्ठित हैं और जिनका (आयतनम्) आधार (सत्यम्) सत्य है ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

अर्थ–(यः) जो कोई (वै) निश्चय से (एताम्) इस ब्रह्मविद्या को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, (वह)

(पाप्मानम्) पापों को (अपहत्य) दूर कर (अनन्तो) अनन्त (ज्येये) श्रेष्ठ (स्वर्गे, लोके) आनन्दमय पद में (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है।

इति चतुर्थः खण्डः

व्याख्या

उपर्युक्त ३ वाक्यों में से पहला वाक्य स्पष्ट है। दूसरे वाक्य में, उपनिषद् के पहले वाक्य में जिस ब्रह्मविद्या के कह दिये जाने की बात कही गई है, उसी (ब्रह्मविद्या) के साधन बतलाये गये हैं। वे साधन ३ हैं–(१) तप, (२) दम, (३) कर्म। इन साधनों के बतला देने का अभिप्राय यह है कि इन साधनत्रय पर आचरण करने ही से कोई ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है। इनमें से (१) तप[१]–कठोरताओं के सहने का नाम है। योगदर्शन में कहा गया है कि तप से अशुद्धियों का क्षय और अशुद्धि–क्षय से देह और इन्द्रियों की सिद्धि होती है–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० २/४३)

एक उपनिषद् में भी कहा गया है–

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते।
एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति।
एतद्वै परमं तपो प्रेतमग्नावभ्यादधति ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद् ५/११/१)

अर्थात् रोग के कष्टों का सहना, प्रेत (मरे हुए की लाश) को श्मशान में ले जाना, चिता में अग्नि लगाना ये महान् तप हैं। योगदर्शन और उपनिषद् के इन वाक्यों से स्पष्ट है कि तप, कठोरताओं के सहने, अशुद्धियों को दूर करके शरीर और इन्द्रियों पर अधिकार रखने तथा कठिन समयों पर जनता की सेवा करने का नाम है।

---

१. 'तप ऐश्वर्ये' धातु से तप ऐश्वर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है।

(२) दम– इन्द्रियों के निग्रह को कहते हैं। इन्द्रियों का ऐसा बना देना 'दम' है, जिससे वे कोई अनुचित काम न कर सकें।

(३) कर्म– ब्रह्मविद्या का साधक कर्म निष्काम कर्म है, जिसको गीता में कर्मयोग कहा गया है। क्यों कर्म से निष्काम कर्म ही का तात्पर्य समझा जावे इसका कारण यह है कि सकाम कर्म से वासना की उत्पत्ति होती है जिसको उपनिषदों में "हृदय-ग्रन्थि"* कहा गया है। इस वासना के चित्त में बने रहने से मनुष्य आवागमन के चक्र से नहीं छूट सकता। परन्तु निष्काम कर्म से बन्धन में लाने वाली यह वासना पैदा नहीं होती। यही निष्काम कर्म की विशेषता है।

इन साधनों को बतलाते हुए, उपनिषत्कार ने उनका महत्त्व प्रकट करने के लिए, प्रकट किया है कि ये साधन वेद और वेदांगों में प्रतिष्ठित हैं और वेद-वेदांगों के लिए कहा है कि उनका आयतन (आधार) सत्य है और सत्य को आधार बतलाने का कारण यह है कि वेद और वेदांग चाहते हैं कि उनमें वर्णित (तप, दम, कर्म) सत्य पर निर्भर हों। यदि इन साधनों में सच्चाई न हो तो फिर यह साधन, केवल दिखावट की बात रह जाते हैं। नीति में एक जगह कहा गया है–

इज्याऽध्ययनदानादि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥

अर्थात् यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, धृति और अलोभ यह आठ प्रकार का धर्म का मार्ग है। इनमें से प्रारम्भ के चार दम्भ के लिए भी प्रयुक्त होते हैं परन्तु अन्त के चार (दिखावट से शून्य) महात्माओं में ही होते हैं। अन्त के चार सत्य, धृति, क्षमा और अलोभ हैं। स्पष्ट है कि सदाचार दम्भ से शून्य हुआ करता है। इसलिए यदि ब्रह्मविद्या के साधन तप,

* देखो कठोपनिषद् (६/१५)

दम, कर्म और सत्य पर निर्भर हों तो फिर उनके भीतर दम्भ और दिखावट नहीं हो सकती। उनमें वास्तविकता (Reality) होगी और इस प्रकार वे ब्रह्मविद्या और ब्रह्म की प्राप्ति के असन्दिग्ध साधन होंगे। यही भाव उपनिषद् के उपर्युक्त द्वितीय वाक्य का है।

तीसरा और उपनिषद् का अन्तिम वाक्य फल-श्रुति के रूप में है। उसमें बताया गया है कि जो जिज्ञासु उपर्युक्त भाँति ब्रह्मविद्या को जानकर उसकी प्राप्ति के साधनों को काम में लाते हैं, वे निष्पाप होकर चिरकाल तक प्राप्त रहने वाले स्वर्ग (ब्रह्म) लोक को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ९ ॥

॥ इति ॥



